

## सावरकर-विवादः ताकि नवउपनिवेशवादी गुलामी बनी रहे।

प्रेम सिंह

(इस लेख में सभी बातें दोहराव भर हैं। मैं 1991-92 से यह सब कहता आ रहा हूँ। यह स्वभाविक है कि कांग्रेस और आरएसएस/भाजपा को मेरी बातें पसंद नहीं आतीं। लेकिन ज्यादातर समाजवादी-सामाजिक न्यायवादी और कम्युनिस्ट भी मेरी बातों को पसंद नहीं करते। मैं संकट से निपटने के उनके उपायों और प्रयासों को दिलचस्पी से देखता हूँ। उनका आदर करता हूँ। सहभागिता भी करता हूँ। लेकिन हम बार-बार पीछे रह जाते हैं, और संकट आगे बढ़ जाता है। हम सभी संकट के समाधान-कर्ता के बजाय उसका हिस्सा बने नज़र आते हैं। यह कब तक चलेगा? शायद नई पीढ़ी ही कुछ अलग हट कर सोचेगी तो बात बनेगी।)

1

यह कहना पिट्ठी को फिर से पीसना होगा कि आधुनिक भारतीय समाज और राजनीति अभी तक के सबसे गहरे संकट से गुजर रहे हैं। वह संकट सांप्रदायिक नफरत के फैलाव से अधिक गहरा है। बल्कि सांप्रदायिक नफरत का कारोबार उस गहन संकट से ही अपना खाद-पानी लेकर फल-फूल रहा है। वह संकट नवउपनिवेशवादी गुलामी का है, 1991 के बाद से जो उत्तरोत्तर गहराता जा रहा है। जब कोई समाज स्वतंत्रता की चेतना - राजनीतिक, नागरिक और निजी - से रिक्त होने लगता है, तो वह प्रतीकों की राजनीति का तूमार खड़ा करता है। ऐसा समाज दरपेश संकट की शिनाख्त, समझ और उससे निकलने की प्रतिबद्धता से कतरा कर मौका-बे-मौका चुर्नीदा प्रतीक पुरुषों के चित्र लहराने और उनकी शान में नारे लगाने के लिए अभिशप्त होता है। ऐसा समाज निजीकरण-उदारीकरण के मौजूदा सैलाब में बहते हुए नवीन उद्भावनाओं के नाम पर यूरोप-अमेरिका के बासी पड़ चुके फार्मूलों, प्रणालियों और उपकरणों (डिजिटल समेत) को आत्म-निर्भरता प्रचारित कर शिरोधार्य करने के लिए भी अभिशप्त होता है। ऐसा समाज उत्साह-पूर्वक देश के कीमती संसाधनों और श्रम को सरेआम देशी-विदेशी प्राइवेट कंपनियों को औने-पौने दामों पर बेचने के लिए तो अभिशप्त होता ही है। आज के भारतीय समाज की वही स्थिति है। नया भारत उँड़ हिंदू-राष्ट्र इसी तरह बनाया जा रहा है। नए भारत के निर्माताओं में एक ही सम्मिलित प्रतिबद्धता है - समाज से स्वतंत्रता की चेतना और समता के विचार का बीज-नाश।

आज सत्ता की राजनीति से जुड़ा कोई नेता या बड़ा बुद्धिजीवी शायद ही यह मानता हो कि विदेशी पूँजी, उससे जुड़े कर्ज़ और शर्तों से राजनीतिक गुलामी आती है; और विदेशी पूँजी के साथ गठजोड़ बनाने वाली निजी पूँजी सरकारों की सहायता से की जाने वाली भारत की

परिसंपत्तियों तथा करदाताओं के धन की लूट पर पलती है. यहां हाल के दो उदाहरण देखे जा सकते हैं: एक, गुजरात में एयरबस-टाटा संयुक्त उद्यम के शिलान्यास के अवसर पर प्रधानमंत्री का गर्व के साथ दिया गया वक्तव्य कि उनकी निवेश के अनुकूल नीतियों ने 60 (सार्वजानिक) क्षेत्रों और 31 राज्यों में विदेशी निवेश (एफडीआई) को आकर्षित किया है. वे प्रत्येक क्षेत्र में 100 प्रतिशत विदेशी निवेश का हौसला लेकर चल रहे हैं. दो, नई शिक्षा नीति (नेप) के वे अनुच्छेद जो विदेशी स्रोतों से ज्यों के त्यों उठा लिए गए हैं, और विदेशी नकल पर आधारित शिक्षा के पाठ्यक्रम एवं प्रणालियां. भारतीय समाज में स्वतंत्रता की चेतना शेष होती तो अकेले इन दो मामलों के बाद नवसामाज्यवाद के खिलाफ निर्णायक संघर्ष का ऐलान हो चुका होता. लेकिन वह प्रतीकों की राजनीति में उलझा है.

मैं यह कई प्रसंगों में कह चुका हूं कि प्रतीकों की राजनीति पिछले तीन दशकों में हुए स्वतंत्रता की चेतना के विलोप को छिपाने के लिए है. इस तरह की राजनीति में आरएसएस/भाजपा का अतिरिक्त आयाम यह है कि वे स्वतंत्रता आंदोलन में हिस्सेदारी न कर अंग्रेजों के समर्थन की अपनी भूमिका को छिपा ले जाना चाहते हैं. जबकि यह भी हो सकता था कि वे स्वतंत्र भारत में स्वातंत्र्य चेतना की मजबूती के पक्ष में भूमिका निभा कर स्वतंत्रता-पूर्व की अपनी भूमिका का परिमार्जन करते. ऐसा करके वे अपनी साख बना सकते थे. ऐसी साख जिसे राजनीतिक सत्ता पर निर्भर न रहना पड़े. लेकिन राजनीतिक सत्ता मिलने पर उन्होंने पूरे स्वतंत्रता आंदोलन और उससे जुड़े नेताओं को निर्थक विवाद में झोंक दिया है. अफसोस की बात यह है कि पूरा विपक्ष इस निर्थक विवाद में फंसा नज़र आता है. विनायक दामोदर सावरकर पर बार-बार उठने वाला विवाद उसी प्रवृत्ति की एक अभिव्यक्ति (मेनीफेस्टेशन) है.

जब भी सावरकर को लेकर राजनीतिक विवाद उठता है, सावरकरवादी, सावरकर-विरोधी और मध्य-मार्गी विद्वान मीडिया में अपने-अपने तर्क लेकर उपस्थित हो जाते हैं - सावरकर का अंतर्विरोधी से भरा व्यक्तित्व, ब्रिटिश-विरोधी क्रांतिकारी चरण, माफीनामों के जरिये सामरिक युक्ति के तहत पीछे हटना, तर्क-परायणता, हिंदू समाज को मुसलमानों की कट्टरता से बचाना, मुसलमानों और ईसाईयों द्वारा हिंदुओं का धर्म-परिवर्तन करने की मुहिम को रोकना, गांधी के हिंदू-मुस्लिम एकता के खब्त का निरंतर विरोध करना आदि-आदि. विवाद में राजनेता अपने बयान और तर्क पेश करते हैं. उन सबके ब्यौरे में यहां नहीं जाना है.

सावरकर-विरोधियों को उन्हें बार-बार विवाद में नहीं खींचना चाहिए. इसलिए नहीं कि ऐसा करने से आरएसएस/भाजपा को फायदा पहुंचता है. बल्कि इसलिए कि भारत में सांप्रदायिक राजनीति रहेगी तो सावरकर भी रहेंगे. वे मोहम्मद अली जिन्ना के साथ हिंदू और इस्लाम धर्म के आधार पर द्वि-राष्ट्र सिद्धांत के प्रणेता थे. सवाल है, क्या साम्प्रदायिकता से बुरी तरह मैले हो चुके भारतीय राजनीति के आंचल के दाग जल्दी धुल जाएंगे? इसका सीधा उत्तर है, संविधान के बरखिलाफ निगम पूँजीवाद चलेगा तो सांप्रदायिक राजनीति भी चलेगी; और उसके चलते उपनिवेशवादी दौर की साम्प्रदायिकता को भी वैधता (लेजिटीमेसी) और स्वीकृति मिलेगी.

वर्तमान यथार्थ को तटस्थता से देखें तो यही लगता है कि भारत से सांप्रदायिक राजनीति निकट भविष्य में खत्म होने नहीं जा रही है, क्योंकि निगम पूँजीवाद पर शासक-वर्ग में सर्वानुमति है. पिछले तीन दशकों में कारपोरेट राजनीति और सांप्रदायिक राजनीति का चोली-दामन का रिश्ता बन चुका है. भारत में दक्षिण-पंथ रहे, यह परेशानी का उतना बायस नहीं है. प्रायः सभी देशों में दक्षिण-पंथी विचारों और राजनीति की उपस्थिति और भूमिका होती है. भारत में सांप्रदायिक, पाखंडी और अंधविश्वासी दक्षिण-पंथ है. नागरिक समाज का धर्म-निरपेक्ष और प्रगतिशील खेमा आम आदमी पार्टी को राजनीति के मैदान में स्थापित करके सांप्रदायिक, पाखंडी और अंधविश्वासी दक्षिण-पंथ पर अपनी मुहर लगा चुका है.

आरएसएस/भाजपा और शिव-सेना सावरकर को अपना आदर्श मानते हैं, उन्हें सावरकर की वीरता भाती है, तो इसमें किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए. सांप्रदायिक राजनीति भी अपना सैद्धांतिक आधार खोजती है, और उन्हें वह सावरकर के विचारों और भूमिका में मिलता है. सावरकर के माफिनामों की सच्चाई इतिहास में दर्ज है. आरएसएस/भाजपा इसके बावजूद उन्हें स्वातंत्र्य वीर मानते हैं, तो यह उनकी समस्या है. माफ़ी भगत सिंह भी मांग सकते थे. चंद्रशेखर आज़ाद अपनी जान लेने के बजाय पुलिस के सामने समर्पण करके जान बचा सकते थे. लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया. उनका रास्ता अलग था. वे देश की आज़ादी कायरता और कपट के रास्ते हासिल नहीं करना चाहते थे.

जो व्यक्ति सावरकर के विचारों और गतिविधियों की यात्रा करेगा वह आसानी से जान लेगा कि सावरकर दरअसल कायरता और कपट को अपनी रणनीति का अभिन्न हिस्सा मानते थे. भारत और विश्व के इतिहास में ऐसा करने वाले लोगों की कमी नहीं रही है. अगर कोई संगठन या व्यक्ति सावरकर के विचारों और तरीकों को सही मान कर उसे अपना आदर्श बनाता है, तो यह उसका चुनाव है. इसका बुरा मानने के बजाय विचारों और कार्य-प्रणाली की पारदर्शिता पर आग्रह

बनाए रखना जरूरी है. प्रगतिशील और धर्मनिरपेक्ष खेमे में वैसी ईमानदारी होती, तो यह संकट इतना विकट नहीं होता. अभी भी यह खेमा पूँजीवादी-सांप्रदायिक गठजोड़ की राजनीति के दायरे में ही चक्कर काटता नज़र आता हैं. इसके विकल्प की राजनीति को पीछे धकेलने में इस खेमे ने सबसे बड़ी भूमिका निभाई है.

आरएसएस/भाजपा को सावरकर के बचाव में गांधी से लेकर श्रीमती इंदिरा गांधी तक के हवाले नहीं देने चाहिए. गांधी ने स्पष्ट कहा था कि उनका कोई शत्रु नहीं है. वे सावरकर के भी हितैषी थे. गांधी की सावरकर को दी गई सलाह की व्याख्या अगर सावरकरवादी यह करते हैं कि गांधी ने उन्हें माफीनामे लिखने को कहा था, तो यह उनकी व्याख्या है. श्रीमती इंदिरा गांधी ने देश की प्रधानमंत्री होने के नाते सावरकर जन्मशती पर जो संदेश भेजा वह शिष्टाचार (प्रोटोकॉल) का नमूना है. सावरकर के माफीनामों के बारे में 1984 के बाद सामने आई क्लासिफाइड फाइल्स उनके सामने आ भी गई होतीं, तो वे शायद वैसा ही संदेश लिखतीं. सावरकर पर भूतकाल में डाक टिकट जारी किया गया था या उन्हें वर्तमान में भारत-रत्न दिया जाता है, इससे परेशान होने की जरूरत नहीं है. सांप्रदायिक राजनीति रहेगी तो यह सब रहेगा.

सावरकर पर विवाद उठता है तो गांधी उसमें आ ही जाते हैं. गांधी आज़ादी के संघर्ष के मंच कांग्रेस के सर्वमान्य नहीं तो सबसे बड़े नेता थे. यह उनके उतार-चढ़ाव भरे लम्बे राजनैतिक करियर का परिणाम था. कांग्रेस के अंदर और बाहर नेताओं का गांधी से मतभेद होना स्वाभाविक था. हर बड़े नेता की तरह गांधी की अपनी शैली और तर्क थे. मतभेद और विरोध की स्थिति में अपनी बात मनवाने में वे अपनी शैली और तर्कों पर अड़ते थे. इस सारे सिलसिले में वे न किसी को बहिष्कृत करते थे, और न खुद पलायन करते थे.

'हिंदू-हित-रक्षक' एवं 'मुस्लिम-हित-रक्षक' नेताओं की उनके साथ कभी चूल नहीं बैठ पाई. गांधी के व्यक्तित्व से ब्रस्त होकर बालकृष्ण शिवराम मुंजे, बलिराम हेडगेवार, जिन्ना जैसे लोग कांग्रेस से पलायन कर जाते हैं. सावरकर और माधव सदाशिवराव गोलवलकर जैसे लोग गांधी के साथ अपना कद नापने लगते हैं; और विफल होने पर गांधी, उनके विचारों और तरीके को खत्म करने की कोशिश में लगे रहते हैं. सावरकर ने गांधी की हत्या के बाद भी यह कोशिश नहीं छोड़ी. गांधी से मतभेद रखने वाले इन सभी महानुभावों की एक परिणति सामान्य है - वे सभी जाकर उपनिवेशवादी सत्ता की गोद में बैठते हैं.

गांधी की हत्या के मुकद्दमे पर बैठी अदालत में सावरकर ने नाथूराम गोडसे को पहचानने से साफ़ इंकार करते हुए अपने बचाव में 57 पृष्ठों का बयान पढ़ा. यह माना जाता है कि हत्या के आरोप से अपने को बचा ले जाने वाले सावरकर ने ही गोडसे का आखिरी बयान भी लिखा था, जिसमें वे गांधी की मृत्यु के बाद उन्हें ध्वस्त करने का प्रयास करते हैं. जेम्स डबल्यू डगलस ने लिखा है, "आलोचकों का कहना है कि हमें गोडसे का आखिरी बयान कह कर जो दिखाया व सुनाया जाता है, दरअसल वह भी उनके गुरु सावरकर ने ही लिखा था. यह बहुत जरूरी था क्योंकि सावरकर को भी पता था और नाथूराम को भी कि यही बयान बाद के वर्षों में उनका सबसे बड़ा बचाव करेगा." उस वाक्ये पर आक्रोश से भरे डगलस आगे लिखते हैं, "भरी अदालत में एक हत्यारा उस आदमी को जलील करता रहा जो हमारा राष्ट्रपिता भी था और जो अपनी बात कहने के लिए अब दुनिया में था ही नहीं! ... आरोपी खुद गांधी पर आरोप लगा रहा था, उसका (हत्या का) औचित्य सिद्ध कर रहा था और उस आदमी को बेशर्मी से कटघरे में खड़ा कर रहा था जिसकी उसने अभी-अभी, सारी दुनिया की आंखों के सामने हत्या की थी." लिहाज़ा, बेहतर यह होगा कि सावरकर-समर्थक और सावरकर-विरोधी दोनों विवाद में उलझते वक्त गांधी को न लाएं.

### 3

महाराष्ट्र के भाजपा नेता कहते हैं कि महाराष्ट्र सावरकर का है. तो क्या महाराष्ट्र साने गुरुजी का नहीं है? बाबा साहेब का नहीं है? प्रतीकों का क्षेत्रवाद अच्छी बात नहीं है. प्रतीकों की राजनीति इससे और गंदली होगी. इस विवाद में महाराष्ट्र के सुधी लोगों को ही यह स्पष्ट करना चाहिए कि महाराष्ट्र किसका है?

सावरकर ने बहुत यातनाएं सहीं, ऐसा मानने वालों की बात का बुरा मानने की जरूरत नहीं है. 1857 के संग्राम में लाखों भारतीयों की जान चली गई. पूरे परिवार/गांव खत्म हो गए. संपत्तियां जप्त कर ली गई. अंग्रेजों ने अपनी जीत के बाद दोषी-निर्दोष का विवेक किये बगैर जो कहर ढाया, विश्व-इतिहास में उसकी शायद ही कोई मिसाल मिले. यातना सहने वालों अथवा कुर्बानी देने वालों को कोई मुआवजा या पेंशन नहीं मिलनी थी. जबकि अंग्रेजों का साथ देने वाले राजे-रजवाड़े, सेठ-साहूकार, जर्मीदार, प्रशासक मालामाल हो गए. भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष को अलगाव (सेग्रेगेशन) और अवमानना (कंटेम्प्ट) की नज़र से देखने वाली मानसिकता यह नहीं देख पाती कि भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष (क्रांतिकारी आंदोलन सहित) में हिस्सा लेने वालों को किन यातनाओं और कुर्बानियों से गुजरना पड़ा. इस मानसिकता से बाहर आने पर लोग स्वतंत्रता आंदोलन में दी

गई कुर्बानियों के साथ उससे जुड़े मूल्यों का महत्व भी समझ पाएंगे। तब शायद नवउपनिवेशवादी गुलामी के खिलाफ स्वतंत्रता की चेतना का स्फुरण भी हो सके।

(समाजवादी आंदोलन से जुड़े लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय के पूर्व शिक्षक और भारतीय उच्च अध्ययन संसथान, शिमला के पूर्व फेलो हैं।)